❐ डॉ० प्रेमसुमन जैन

पर्यावरण – संरक्षण और जैन धर्म

पर्यावरण के साथ धर्म के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए धर्म के उस वास्तविक स्वरूप को जानना होगा जो प्राणी-मात्र के लिए कल्याणकारी है। वैदिक युग के साहित्य से ज्ञात होता है कि धर्म का जन्म प्रकृति से ही हुआ है। प्राकृतिक शक्तियों को अपने से श्रेष्ठ मानकर मानव ने उन्हें श्रद्धा, उपहार एवं पूजा देना प्रारम्भ किया। वहीं से वह आत्म-शक्ति को पहिचानने के प्रयत्न में लगा। प्रकृति, शरीर, आत्मा एवं परमात्मा इस क्रमिक ज्ञान से धर्म का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय परम्परा में धर्म जीवन–यापन की एक प्रणाली है, केवल बौद्धिक विलास नहीं है। अत: जीवन का धारक होना धर्म की पहली कसौटी है। चूँकि जीवन एवं प्राण सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी में भी विद्यमान है। अत: उन सबकी रक्षा करने वाली जो प्रवृत्ति है, वही धर्म है। महाभारत के कर्णपर्व में कहा गया है कि समस्त प्रजा का जिससे संरक्षण हो, वह धर्म है। यह प्रजा पूरे विश्व में प्याप्त है। अत: विश्व को जो धारणा करता है, उसके अस्तित्व को सुरक्षित करने में सहायक है, वह धर्म है–

"**धरति विश्वं इति धर्म:**" महाभारत की यह उक्ति बड़ी सार्थक है। महर्षि कणाद ने धर्म के विधायक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धर्म उन्नति और उत्कर्ष को प्रदान करने वाला है–

"**यतोअ्भ्युदय नि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:**"। उन्नति और उत्कर्ष का मार्ग स्पष्ट करते हुए धर्म के अन्तर्गत श्रद्धा, मैत्री, दया, सन्तोष, सत्य, क्षमा आदि सद्गुणों के विकास को भी सम्मिलित किया गया है।

समग्र दृष्टि से देखें तो पर्यावरण का तात्पर्य यही है। पर्यावरण या समग्र प्रकृति एक-दूसरे का पर्याय है। केवल नदी, जल, जंगल, पहाड़, पशु-पक्षी और हवा ही पर्यावरण नहीं है। हमारे सामाजिक-आर्थिक सरोकार और हमारी सांस्कृतिक-राजनीतिक, सम-सामयिक परिस्थितियाँ भी पर्यावरण के ही फलक हैं। बेशक प्राकृतिक पर्यावरण इन सभी फलकों को सर्वाधिक प्रभावित करता है, क्योंकि विकास की धुरी में प्राकृतिक संसाधनों का ही प्रमुख स्थान है।

संतुलित पर्यावरण का अर्थ जीवन और जगत् को पोषण देना है। इस धरती पर जो कुछ दृश्यमान या विद्यमान है, वह पोषित हो, पुष्ट हो–यही पर्यावरण का अभीष्ट है। और यह दायित्व चेतनाशील मनुष्य का है। पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ और पेड़-पक्षी, वनस्पतियाँ और पेड़-पौधे मनुष्य से कम चेतनाशील हैं? यदि मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए उनका विनाश करता है, तो हम न तो उसे चेतनाशील कह सकते हैं, न विवेकशील।

इस असंगति ने हमारे सम्पूर्ण जीवन-क्रम को काली छाया से ग्रस लिया है। हमारे जीवन-क्रम में सदा एक सुसंगति, समात्मता और समादर रहा है, जो आज विकास के नाम पर पैरों तेल रौंदा जा रहा है, जिससे विद्वेष-घृणा पनपने लगी है। हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण पर आसुरी-वृत्तियों का दबाव बढ़ता जा रहा है। यह दशा यंत्र और विज्ञान के उपजे लोभ के फल-स्वरूप है। सही अर्थों से सोचा जाए तो यंत्र और विज्ञान लोभ के साधन नहीं होने चाहिए, पर ऐसा है कहाँ?

डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं – यदि हम एक-दूसरे के प्रति दयालु नहीं हैं और यदि पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करने के हमारे सब प्रयत्न असफल रहे हैं, तो उसका कारण यह है कि मनुष्यों के मनों और हृदयों में दुष्टता, स्वार्थ और द्वेष से भरी अनेक रुकावटें हैं, जिनका हमारी जीवन प्रणाली कोई रोकथाम नहीं कर पाती। यदि हम आज जीवन द्वारा तिरस्कृत हैं, तो इसका कारण कोई दुष्ट भाग्य नहीं है। जीवन के भौतिक उपकरणों को पूर्ण कर लेने में हमारी सफलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण हमारे मन में आत्मविश्वास और अभिमान की एक ऐसी मनोदशा उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण हमने प्रकृति के ज्ञान का संचय और मानवीकरण करने की बजाय उसका शोषण करना प्रारंभ कर दिया है। हमारे सामाजिक जीवन ने हमें साधन तो दिए है, पर लक्ष्य प्रदान नहीं किए। हमारी पीढ़ी के लोगों पर एक भयानक अंधता छा गई है। इस अंधता का उपाय कौन खोजेगा? कहीं से कोई प्रकाश किरण फूट सकती है, तो वह मनुष्य ही है। जो स्वरूप आज हमारे सामने है, उसी में से एक ऐसे संसार की रचना करनी होगी, ऐसा समाज 'गढ़ना' होगा, जो सत्य, करुणा और सृजनशीलता पर अवलंबित हो।

जैन धर्म संसार का वह पहला और अब तक आखिरी धर्म है जिस ने धर्म का मूलाधार पर्यावरण-सुरक्षा को मान्य किया है। भगवान महावीर का सब से पहला उपदेश आचारांग में संकलित किया गया। आचारांग का पहला अध्ययन षट्काय जीवों की रक्षार्थ रचा गया। महावीर ने स्पष्टत: जोर दे कर निर्देशा कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रसकाय जीव जीव हैं, साक्षात प्राणधारी जीव। इन्हें अपने ढंग से जीने देना धर्म है, इन्हें कष्ट पहुंचाना या नष्ट करना हिंसा है, पाप है। अहिंसा परम धर्म है और हिंसा महापाप। इन्हीं षट्काय जीवों की संतति पुरानी शब्दावली में संसार और आधुनिक शब्दावली में पर्यावरण से अभिहित है। अपने संयत और सम्यक् आचरण से इस षट्कायिक पर्यावरणीय संहति की रक्षा करना जैन धर्म का मूलाधार है।

जैन धर्म ने ही सब से पहले पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पतियों को जीव कहा। त्रसकाय जीवों को तो और भी विचारक जीव या प्राणी मानते रहे। इधर आ कर विज्ञान ने सर जगदीश चन्द्र बसु की खोज के आधार पर वनस्पतियों को जीव मानना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु अब षट्कायों के पहले चार काय, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि को जीव श्रेणी में केवल जैन ही रखते हैं और उन्हें अन्य जीवों की भांति अपने धर्माचार में स्थान दिए हुए हैं। इस आस्थागत अवधारणा के आधार पर न केवल यह पृथ्वी प्रत्युत् ब्रह्माण्ड की सारी पृथ्वियाँ, यथा—ग्रह, उपग्रह तथा नक्षत्र, सम्पूर्ण वायु मण्डल, जलाशय तथा अग्निस्रोत सब के सब एकेन्द्रिय जीव है जिनके अधीन असंख्यात त्रसकाय जीवों की द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय योनियाँ आश्रय लिए हुए हैं। इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा लोक-रचना जीवतत्व से ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण लोक जीवंत है। अत: सम्पूर्ण पर्यावरण एक जीवंत इकाई है। जैन धर्म का दार्शनिक आधार यह है कि सम्पूर्ण लोकरचना में जीव तत्व की प्रमुख भूमिका है। उसी के उपग्रह से संसार का सामूहिक जीवन स्थिर है। उसी के निमित्त से लोकरचना का सम्पूर्ण पर्यावरण जीवंत है।

जैन धर्म का नारा है ''जिओ और जीने दो''। इस ''जिओ और जीने दो'' में पर्यावरण के जीव तत्व के प्रति आदर का भाव निहित है। और पर्यावरण की जैन अवधारणा में शामिल है – पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, उर्जा, पेड़–पौधे, वनस्पतियां, हर प्रकार के कीट-पतंग, जीव-जंतु, स्वयं मनुष्य, और यहां तक कि न दिखाई देने वाली देव नारक योनियां भी। इस समग्र पर्यावरण का आदर, तात्पर्य, इसे अपनी तरह जीने और मरने का मौलिक अधिकार की स्वीकृति, दूसरे शब्दों में, पर्यावरण–सुरक्षा, स्वयं पर्यावरण के जीव तत्व के द्वारा, पर्यावरणीय सुख के लिए उसमें किसी प्रकार की दखलदाजी दिए बिना जैन धर्माचार की मूल अवधारणा है। जैन पर्यावरण को मनुष्य के सुख का उपकरण मात्र नहीं मानते। पर्यावरण की अक्षमता का लाभ उठाते हुए उसे अपना गुलाम बनाना, अपनी लिप्सा के लिए उन का विनाश या तोड़-फोड़ करना जैनों की निगाह में घोर मानवीय अपराध है, जिस कारण हिंसक मनुष्य घोर नारकीय दु:खों का बंध करता है और अपनी दु:ख-श्रृंखला को कभी न समाप्त होने वाली आयु प्रदान करता है। पर्यावरण को अपने ढंग से जीने देना, उस में कम से कम दखलंदाजी करना पर्यावरण-सुरक्षा की स्वाभाविक गारंटी है।

मितव्ययता जैन धर्म-दर्शन के व्यावहारिक पहलू की रीढ़ है। मितव्ययता की परिभाषा है– विवेकसम्मत आवश्यकता की पूर्ति के लिए कम से कम वस्तुओं का उपभोग। मितव्ययता की पूर्व शर्त है, वैराग्य और त्याग भाव, जिस से फलित होती है पर वस्तुओं की लिप्सा की कमी। कम हो चुकी या होती हुई लिप्साओं से परवस्तुओं की कम से कम आवश्यकताओं की अनुभूति पैदा होती है। कम होती हुई आवश्यकताओं का मापदण्ड है- वस्तुओं का कम से कम मितव्ययीय उपयोग। जीने के हर कदम पर जैन मितव्ययता सूत्र को लागू करते हैं। जितनी कम से कम जरूरत हो उसी के मुताबिक खनिज, हवा, पानी, उर्जा, वनस्पतियां, त्रस जीवों के शरीर और उन की सेवाएं उपभोग में ली जाएं। जिस आचरण से किसी जीव के सर्वथा प्राणहरण हो जाएं उससे बचा जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म ने संसार के स्वरूप का विवेचन विभिन्न द्रव्यों और पदार्थों के माध्यम से किया है। वह केवल आत्मा और परमात्मा के स्वरूप पर ही विचार नहीं करता, अपितु मनुष्य और उसके आसपास के वातावरण का भी अध्ययन प्रस्तुत करता है। प्रकृति और मनुष्य को गहराई से जानने और समझने का प्रयत्न ही पर्यावरण को सही ढंग से संरक्षित करने का आधार है। मनुष्य सम्पदा, जल-समूह एवं वायुमण्डल के समन्वित आवरण का नाम है—पर्यावरण। वस्तुत: सम्पूर्ण प्रकृति और मनुष्य के उसके साथ सम्बन्धों में मधुरता का नाम ही पर्यावरण—संरक्षण है। पर्यावरण के विभिन्न आधार और साधन हो सकते हैं। किन्तु धर्म उनमें प्रमुख आधार है। समता, अहिंसा, संतोष, अपरिग्रहवृत्ति, शाकाहार का व्यवहार आदि जीवन-मूल्यों के द्वारा ही स्थायी रूप से पर्यावरण को शुद्ध रखा जा सकता है। ये जीवन-मूल्य जैन धर्म के आधार स्तम्भ हैं।

धर्म के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए जैन आगमों में एक महत्वपूर्ण गाथा कही गयी है –

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस आत्मा के भाव धर्म हैं। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र) धर्म हैं तथा जीवों का रक्षण करना धर्म है। धर्म की यह परिभाषा जीवन के विभिन्न पक्षों को समुन्नत करने वाली है। पर्यावरण की शुद्धता के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के धर्म की बड़ी सार्थकता है।

धर्म नाम स्वभाव का

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहना बड़ी असाम्प्रदायिक घोषणा है धर्म के सम्बन्ध में। कोई जाति, कोई व्यक्ति, किसी शास्त्र, किसी देश या विचारधारा का इस परिभाषा में कोई बन्धन नहीं है। विश्व की जितनी वस्तुएं हैं, उनके मूल स्वभाव को जान लेना, उन्हें अपने-अपने स्वभाव में ही रहने देना सबसे बड़ा धर्म है। हमारे शरीर का स्वभाव है— जन्म लेना, वृद्धि करना और समय आने पर नष्ट हो जाना इत्यादि। किन्तु जब हम इससे भिन्न शरीर से अपेक्षा करने लगते हैं तो हम अधर्म की ओर गमन करते हैं। शरीर को अधिक सुख देकर उसे अमर बनाना चाहते हैं। बाहरी प्रसाधनों से सजाकर उसकी भीतरी अशुचिता से मुख मोड़ना चाहते हैं। अपने शरीर के सुख के लिए दूसरों के शरीर को समय से पहले नष्ट कर देना चाहते हैं तो इससे शोषण पनपता है, क्रूरता जन्म लेती है, विलासिता बढ़ती है और हम अधार्मिक हो जाते हैं।

हमने शरीर के स्वभाव को समझने में जो भूल की वही भूल प्रकृति को समझने में करते हैं। प्रकृति के प्राणतत्व का संवेदन हमने अपनी आत्मा में नहीं किया। हम यह नहीं जान सके कि वृक्ष हमसे अधिक करुणावान एवं परोपकारी हैं। हमने धरती की ये धड़कनें नहीं सुनीं, जो उसका खनन करते समय उससे निकलती हैं। प्रकृति का स्वभाव जीवन्त सन्तुलन बनाये रखने का है, उसे हम अनदेखा कर गये। हमने प्रकृति को केवल वस्तु मान लिया, लेकिन वस्तु का स्वभाव क्या है, यह जानने की हमने कोशिश नहीं की। परिणामस्वरूप हमने अपने क्षणिक सुख और अमर्यादित लालच की तृप्ति के लिए प्रकृति को रौंद डाला, उसे क्षत-विक्षत कर दिया, उसका परिणाम हमारे सामने है। जैसे मनुष्य जब अपने स्वभाव को खो देता है तब वह क्रोध करता है, विनाश की गतिविधियों में लिप्त होता है, वैसे ही स्वभाव से रहित की गयी प्रकृति आज अनेक समस्याएं पैदा कर रही है।

शरीर, प्रकृति एवं अन्य भौतिक वस्तुओं के स्वभाव की जानकारी के साथ यदि व्यक्ति आत्मा के स्वभाव को भी जानने का प्रयत्न करे तो वस्तुओं को संग्रह करने एवं उनमें आसक्ति की भावना धीरे-धीरे कम हो जायेगी। क्योंकि ये सब वृत्तियां भयभीत, असुरक्षित, अज्ञानी व्यक्ति की निर्भरता के कारण उत्पन्न हुई हैं। जब मानव को यह पता चल जाय कि उसकी आत्मा स्वयं सभी शक्तियों से युक्त है, उसे बाहर की कोई शक्ति सहारा नहीं दे सकती और न ही आत्मा को कोई नुकसान पहुंचा सकता है तब मानव स्वयं निर्भय बन जायेगा, आत्म निर्भर बन जायेगा। फिर उसे वस्तुओं के ढेर और शस्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता? जो व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वभाव को जान लेगा कि वह दयालु है, जीवन्त है, निर्भय है तब वह यह भी जान जायेगा कि विश्व के सभी प्राणियों का स्वभाव यही है। तब अपनी आत्मा जैसे कीमती एवं उपयोगी प्राणियों की हत्या, दमन, शोषण करने की क्या आवश्यकता है? इस समता के भाव से ही क्रूरता मिट सकती है। आत्मा के इसी स्वभाव को जानने के लिए क्षमा, मृदुता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग निस्पृही वृत्ति, ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के आत्मिक गुणों को जानने को धर्म कहा गया है। इन गुणों की साधना से आत्मा और जगत के वास्तविक स्वभाव के दर्शन हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। इसी स्वभाव रूपी चादर के सम्बन्ध में संत कबीर ने कहा है–

या चादर को सुर-नर मुनि ओढ़ी
ओढ़ के मैली कीनी।
दास कबीर जतन कर ओढ़ी।
ज्यों की त्यों धर दीनी।।

जतन की चादर

विश्व के चेतन, अचेतन सभी पदार्थों के आवरण से देवता, मनुष्य, ज्ञानीजन सभी व्याप्त रहते हैं। पर्यावरण की चादर उन्हें ढके रहती है, किन्तु अज्ञानी जन अपने स्वभाव को न जानने वाले अधार्मिक उस प्रकृति की चादर को मैली कर देते हैं। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए पर्यावरण को दूषित कर देते हैं। किन्तु कबीर जैसे स्वभाव को जानने वाले धार्मिक संसार के सभी पदार्थों के साथ जतन (यत्नपूर्वक) का व्यवहार करते हैं। न अपने स्वभाव को बदलने देते हैं औन न ही पर्यावरण और प्रकृति के स्वभाव में हस्तक्षेप करते हैं। प्रकृति के सन्तुलन को ज्यों का त्यों बनाये रखना ही परमात्मा की प्राप्ति है। तभी साधक कह सकता है– **''ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।''** अपने स्वभाव में लीन होना ही स्वस्थ होना है। जब पर्यावरण स्वस्थ होगा तब प्राणियों का जीवन स्वस्थ होगा। स्वस्थ जीवन ही धर्म साधना का आधार है। अत: स्वभावरूपी धर्म पर्यावरणशोधन का मूलभूत उपाय है। साधक है तो आत्म-साक्षात्कार रूपी धर्म विशुद्ध पर्यावरण का साध्य है, उद्‌देश्य है। कबीर ने जिसे ''जतन'' कहा है, जैनदर्शन के चिन्तकों ने हजारों वर्ष पूर्व उसे यत्नाचार धर्म के रूप में प्रतिपादित कर दिया था। उनका उद्‌घोष था कि संसार में चारों ओर इतने प्राणी, जीवन्त प्रकृति भरी हुई है कि मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय उनके घात-प्रतिघात से बच नहीं सकता। किन्तु यह प्रयत्न (जतन) तो कर सकता है कि उसके जीवनयापन के कार्यों से कम से कम प्राणियों का घात हो। उसकी इस अहिंसक भावना से ही करोड़ों प्राणियों को जीवनदान मिल जाता है। प्रकृति का अधिकांश भाग जीवन्त बना रह सकता है। आचार्य ने कहा है–

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयंमासे जयं सये।
जय भुँजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई।।

''व्यक्ति यत्न-पूर्वक चले, यत्नपूर्वक ठहरे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोए, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक बोले तो इस प्रकार के जीवन से यह पाप-कर्म को नहीं बाँधता है।''

चलने, ठहरने, बैठने और सोने की क्रियाओं का धरती के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन क्रियाओं को यदि विवेकपूर्वक और आवश्यकता के अनुसार सीमित नहीं किया जाता तो सारे संसार की हिंसा इनमें समा जाती है। दो गज जमीन की आवश्यकता के लिए पूरा विश्व ही छोटा पड़ने लगता है। ये क्रियाएं फिर हमारी आंखों के दायरे से बाहर होती हैं। अत: उनके लिए की गयी हिंसा, बेईमानी और शोषण हमें दीखता नहीं हैं, या हम उसे नजर-अंदाज कर देते हैं। अपना पाप दूसरे पर लाद देते हैं। इससे पर्यावरण के सभी घटक दूषित हो जाते हैं। धरती की सारी खनिज-सम्पदा हमारे ठहरने और सोने के सुख के लिए बलि चढ़ जाती है। दूसरी महत्वपूर्ण क्रिया भोजन की है। आचार्य कहते हैं, यत्नपूर्वक भोजन करो। इस सूत्र में अल्प भोजन, शुद्ध भोजन, शाकाहार आदि सभी के गुण समाये हुए हैं। भोजन प्राप्ति में जब तक अपना स्वयं का श्रम एवं साधन की शुद्धता सम्मिलित न हो तब तक वह यत्नपूर्वक भोजन करना नहीं कहलाता है। व्यक्ति यदि इतनी सावधानी अपने भोजन में कर ले तो अतिभोजन और कुभोजन की समस्या समाप्त हो सकती है। पौष्टिक, शाकाहारी भोजन का व्यापक प्रचार यत्नपूर्वक भोजन दृष्टि से ही किया जा सकता है। इससे कई प्रकार के स्वास्थ्य प्रदूषणों को रोका जा सकता है। यत्नपूर्वक वचन-प्रयोग करने की नीति जहाँ व्यक्ति को हित-मित और प्रिय बोलने के लिए प्रेरित करती है, वहीं इससे ध्वनि-प्रदूषण को रोकने में भी मदद मिल सकती है।

मनोभाव एवं मानसिक प्रदूषण से वर्तमान मानव सभ्यता एवं प्रकृति व्यापक एवं गहन रूप से प्रभावित हुई है। मानव जीवन की सरलता, सज्जनता, निष्कपटता, निश्छलता, परदु:खकातरता, स्वावलंबन, कर्तव्यनिष्ठा, श्रमनिष्ठा, परस्पर-सहयोग, प्राणि-मात्र के प्रति दया एवं करुणा आदि ऐसे सहज मानवीय गुण हैं जो मनुष्य को अन्य प्राणियों की तुलना में श्रेष्ठता प्रदान करते हैं और जिसके संतुलन से प्रकृति-व्यवस्था संतुलित एवं मर्यादित चलती रहती है। किन्तु जब इन मानवीय गुणों का ह्रास होता है या इन गुणों का प्रतिपक्षी मनोभाव मानव जीवन को आक्रान्त करते हैं तब उससे न केवल व्यक्ति किन्तु समाज भी दु:खी होता है। इससे प्राकृतिक संतुलन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है जैसा कि वर्तमान में मनोविकृत सामाजिक अव्यवस्था एवं प्राकृतिक असंतुलन के दुष्परिणामों को हम अनुभूत कर रहे हैं। वस्तुत: इन सब विकृतियों के लिये मानव जगत का मानसिक प्रदूषण ही उत्तरदायी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यावरण शुद्धि हेतु यह आवश्क है कि मानवीय मानसिक प्रदूषण को नियंत्रित, संयमित एवं संतुलित कर उसे जनोपयोगी बनाया जावे, इस कार्य में सत्तासीन एवं प्रशासन में बैठे व्यक्तियों की मनोवृत्ति ही एकमात्र जैसा घटक है जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक प्रदूषण को प्रभाव-पूर्वक नियन्त्रित एवं संतुलित कर पर्यावरण शुद्ध कर सकता है। व्यक्ति एवं समाज सत्तासीनों तथा राज-प्रभुओं के आचरण का प्रतिबिम्ब होने के कारण सुधार की प्रक्रिया उच्च सत्तासीनों से आरम्भ होना वांछनीय है।

व्यक्ति एवं समाज की अशुभ प्रवृत्तियों, असदाचार, असंयम को रोकने में रामकृष्ण, महावीर, बुद्ध, मोहम्मद, ईसा, जरस्थु एवं उनके अनुयायी महर्षियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्होंने वैचारिक शुद्धता-शुभता से व्यक्ति-सुधार द्वारा समाज--सुधार के वैज्ञनिक प्रयोग किये हैं। दुर्भाग्य का विषय है कि वर्तमान में भौतिकता की चकाचौंध में हमने इन महापुरुषों द्वारा बताये गये सुख के शाश्वत मार्ग को विस्मृत कर दिया है और अपने को अपटूडेट घोषित कर दिया है। हमारी इस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति एवं समाज सहज मानवीय उदात्त भावनाओं से भटक गया है और हम एक कृत्रिम जीवन जीने को विवश हो गये हैं जो शारीरिक-ब्याधि, मानसिक-विक्षिप्तता एवं प्राकृतिक-प्रदूषण के रूप में हमारे सामने अपनी विकरालता सहित अनुभूत हो रहा है।

पर्यावरण का अर्थ होता है: जीव-सृष्टि एवं वातावरण का पारस्परिक आकलन, जिसमें सजीव प्राणी, आबहवा, भूगर्भ और आसपास की परिस्थिति विषयक विज्ञान का समावेश होता है। यदि पर्यावरण को व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो उसमें केवल मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, वनस्पति और आकाश, अनंत सूक्ष्म जीव-सृष्टि का ही नहीं, अपितु समग्र ब्रह्माण्ड, तारकवृंद, सूर्य-मंडल तथा पृथ्वी के आसपास के सूर्य, चन्द्र, ग्रह और गिरि-कन्दरा, पर्वत, सरिता, सागर, झरने, वन-उपवन, वृक्ष, वनस्पति, पुष्प तथा भूपृष्ठ, जलपृष्ठ सहित जीव-सृष्टि के सभी प्राकृतिक पदार्थ एवं पृथ्वी, हवा, अग्नि, जल, गगन जैसे पंचमहाभूत तत्वों का भी समावेश होता है। जैन धर्म के मूलाधार सिद्धांतों पर यदि सुचारु एवं सुयोग्य तरीके से अमल किया जाय तो प्रकृति की सुरक्षा करने में उनका सहयोग प्राप्त होता है, पर हमें इस बात की जानकारी सर्वप्रथम प्राप्त करनी चाहिए कि जैन धर्म के मूलभूत सिद्धांत कौन-कौन से हैं? उनकी विस्तार से ऊपर चर्चा की जा चुकी है।

जैन धर्म की बुनियाद है-अहिंसा। इसीलिए अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। केवल जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा की है। जैन धर्म मानता है कि प्रत्येक जीव में आत्मा रहती है और सभी आत्माएं समान हैं। पंचेन्द्रियधारक बड़े जीव हों या एकेन्द्रिय धारक जीव-सब जीना चाहते हैं। इसीलिए जैन धर्म के मतानुसार किसी भी जीव का दमन करना, उसे दु:ख पहुँचाना, उसे गुलाम बनाना, उस पर सितम ढ़ाना या उसका प्राण-हरण करना महापाप है, हिंसा है। सभी जीवों को जीने का अधिकार है। उन पर प्रेम, करुणा और दया रखनी चाहिए। जैन धर्म सर्वजीवों को जीने का प्रकृतिदत्त अधिकार स्वीकार करता है। उसमें प्रकृति के किसी भी पदार्थ के प्रति शत्रुता, नफरत या विरोध के भाव को जरा भी स्थान नहीं है। जैन धर्म जीव-सृष्टि एवं प्रकृति-सृष्टि के प्रति प्रेम, सम्मान, करुणा, आदर, सहिष्णुता, दया, मैत्री, स्नेह, क्षमा और समता से व्यवहार करने का बोध देता है।

हम तो अनगिनत जीवों में से एक जीव हैं, अनंत आकाश तथा अनंत काल के चक्र में इस असीम विश्व का अस्तित्व है और ऐसी अनंतता के एक बिन्दु के समान यह पृथ्वी है जिसके असंख्य जीवों में से हम एक क्षुद्र जीव हैं। कास्मोलॉजी या वैश्विक विज्ञान का यह जैन सिद्धांत समझ में आ जाय-तो हम जीवन के सभी क्षेत्रों में अहंकार या अहम् को छोड़कर विनम्र बन सकते हैं। हमें प्रकृति के नियमों और उनके अर्थो को वैज्ञनिक ढंग से सिद्ध करना चाहिए। वही हम सबकी नीति और हमारा परम धर्म बन सकेगा। ''युनाइटेड नेशन्स वर्ल्ड चार्टर ऑन नेचर'' का भी यही संदेश है कि हमें समग्र मानव जाति के अस्तित्व तथा विकास के लिए यही पद्धति अपनानी पड़ेगी।

प्राचीन साधकों की इस यत्नपूर्वक (प्रमाद-रहित) जीवन पद्धति को आधुनिक मनीषियों ने भी वाणी दी है एवं लोक-जीवन ने उसे आत्मसात् कर अपने उद्गार व्यक्त किये हैं। बंगला कहावत में कहा गया है – **पचे सोई खाइबो, रुचे सोई बोलिबो।**

आत्मालोचन से शुद्धि

प्रदूषण का अर्थ है किसी स्वाभाविक वस्तु में विकार आ जाना। असली में नकली वस्तु का, तत्व का मिल जाना शुद्ध वस्तु का अशुद्ध हो जाना है। मिलावट की यह प्रक्रिया शरीर में, प्रकृति में एवं आत्मा के स्वभाव में कर्मों के रजकणों के द्वारा, दूषित वृत्तियों (कषायों) के द्वारा निरन्तर होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहती है। ''कषाय'' जैनदर्शन का लाक्षणिक शब्द है। यही संसार-भ्रमण एवं कर्म-परम्परा का मूल कारण है। कषाय का अर्थ ही है-मटमैला, अशुद्ध। इसको शुद्ध करना ही रत्नत्रय की साधना का उद्देश्य है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया के विकास में जैन साधना-पद्धति में एक आलोचना-पाठ बहुत प्रचलित है, जिसके द्वारा श्रद्धालु श्रावक अपने द्वारा किये प्रदूषणों के प्रति स्वयं की आलोचना करता है और उन्हें आगे न करने की प्रतिज्ञा करता है–

''करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरन के काज''

कवि जौहरीलाल ने इस आलोचना पाठ में जीवन में प्रमादवश जितने हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रूरता, लोभ आदि के अनुचित कार्य हो जाते हैं, उनकी आलोचना की है और कहा है कि हम अपने स्वभाव को भूलकर विभाव का आचरण करते हैं इसलिए हम परम-पद को नहीं पाते हैं। ''जतन'' को स्वीकृति देते हुए कहा गया है–

किय आहार निहार विहारा, इनमें नहिं 'जतन' विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिन सोधी वसत जु खाई।।

इतनी सावधानी की चिन्ता यदि गृहस्थ जीवन में धार्मिक व्यक्ति करने लग जाय तो उसकी कथनी-करनी का अन्तर मिट जाय। वनस्पति की रक्षा की भावना उसके मन में है। किन्तु स्वार्थ और दयाहीनता के कारण उसने हरियाली को उजाड़ दिया है। अत: अपने को वह अपराधी मानता है–

हा, हा, मैं अदयाचारी, बहु हरित काय तो विदारी।

जल प्रदूषण का भागीदार होने का उसे आभास है। वह कहता है–

जलमल मोरिन गिरवायौ, कृमि-कुल बहुघात करायौ।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये।।

आलोचना पाठ के मात्र इस पद को यदि आज उद्योग के क्षेत्र में पालन करने की अनिवार्यता हो जाय तो जल-प्रदूषण का अधिकांश भाग स्वयमेव रूक जायेगा। जो धार्मिक व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में जलचर जीवों की रक्षा की बात सोचता है वह अपने उद्योग-धंधे में उनके विनाश की बात कैसे सोचेगा? द्रव्य का अर्जन करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। तृष्णा की खाई को कौन भर सका है? अत: करुणा के मूल्य को प्रतिष्ठा देना ही सच्चे मानव का उद्देश्य होना चाहिए। इस आलोचना पाठ का कवि अन्त में यही कामना करता है कि यदि मैं यत्नपूर्वक अपना जीवन चलाने लग जाऊँ और 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को व्यवहार में अपना लूँ तो संसार के सभी प्राणी सुखी हो सकते हैं–

सब जीवन के सुख बढ़ैं, आनन्द-मंगल होय।

समस्या का मूल

धर्म की परिभाषा में जो वस्तु का स्वभाव, आत्मा के क्षमा आदि गुण एवं रत्नत्रय की आराधना का निरूपण किया गया है उसको संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कह दिया गया कि- **''जीवाणं रक्खणं धम्मो।''** धर्म का यह सूत्र पर्यावरण शुद्धता के लिए बहुत उपयोगी है। क्योंकि गहराई से देखें तो पर्यावरण को प्रदूषित करने में दो ही मूल कारण हैं – तृष्णा और हिंसा। इनके पर्यायवाची हैं– परिग्रह और क्रूरता। इनमें प्रथम साध्य है और दूसरा साधन। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम हिंसा-निवारण की तो बात करते हैं, आन्दोलन चलाते हैं, प्रतिदिन पूजन-प्रार्थना में अहिंसा की साधना का पाठ दुहराते हैं किन्तु परिग्रह की वृत्ति को गले लगाते हैं, परिग्रही को सम्मान देते हैं। हिंसा-निवारण या प्रदूषण-शोधन में उस धन का उपयोग करना चाहते हैं, करते हैं, जो हिंसा और प्रदूषण के माध्यमों से ही एकत्र किया गया है। इसी आत्मघाती विपरीत प्रक्रिया के कारण हिंसा या प्रदूषण घटने की बजाय दिनोंदिन बढ़ा है।

आज उद्योगों के केन्द्रीकरण, यान-वाहनों के अधिकाधिक प्रयोगों एवं अणुशस्त्रों और विभिन्न वैज्ञानिक प्रयोगों से अन्तरिक्ष में इतना कचरा फैल गया है कि उससे आकाश में व्याप्त प्राणवायु समाप्त होने लगी है। जंगलों को काटने की बढ़ोत्तरी से पर्यायवरण से ऑक्सीजन का भण्डार समाप्त हो रहा है। कीटनाशक दवाओं के प्रयोग से कीड़े-मकोड़ों की कई प्रजातियां लुप्त हो गयी हैं। धरती ने अपनी उर्वरक शक्ति का रूप बदल दिया है। जल के जीवों की हिंसा ने स्वाभाविक जल-शोधन की प्रक्रिया में बाधा उपस्थित कर दी है। अनावश्यक खून-खराबे ने सारे पर्यावरण को क्रूर और लोभी बना दिया है। इस प्रदूषण को अब कृत्रिम साधनों से नहीं रोका जा सकता। क्योंकि पर्यावरण-संशोधन की कई प्रक्रियाएँ अब व्यापारिक हो गयी हैं। स्वार्थ के कारण भ्रामक रिपोर्ट प्रस्तुत करने के कारण प्रदूषण-निरोध के अधिकांश उपाय अब भरोसेमंद नहीं रहे। तब इनके कुछ अन्य विकल्प खोजने होंगे। प्रदूषण की समस्या को हिंसा और लालच की समस्या मानकर उसका समाधान करना अधिक उपयोगी होगा।

अधिष्ठाता, कला संकाय
सुखाड़िया विश्व विद्यालय, उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org